

## वैश्वीकरण के कारण भारतीय कृषकों द्वारा सामना किए गए समस्याओं का अध्ययन

चेतना शर्मा<sup>1</sup>, डॉ एच. पी. सिंह<sup>2</sup>

अर्थशास्त्र विभाग

<sup>1,2</sup>चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

सार

औद्योगिकीकरण एवं शहरीकरण पर आधारित आधुनिकीकरण के बावजूद हमारी अर्थव्यवस्था में कृषि की भूमिका महत्वपूर्ण बनी हुई है। सकल घरेलू उत्पाद में 21 प्रतिशत योगदान, कुल जनसंख्या के 65 प्रतिशत की कृषि पर निर्भरता, 56.7 प्रतिशत कार्य बल को रोजगार, सम्पूर्ण खाद्य एवं पौष्टिक पदार्थों के उत्पादन तथा जूट, सूती वस्त्र, चाय, काफी, रेशम, रबर, खाद्य प्रसंस्करण आदि महत्वपूर्ण उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल का उत्पादन आदि इसके प्रमाण हैं। राष्ट्र के पूरे कार्य बल का दो-तिहाई श्रमिक तथा सैन्य और अर्द्धसैनिक बलों के लिए तीन चौथाई सैनिक ग्रामीण क्षेत्रों से आते हैं। उनके शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य के लिए कृषि एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था का सुदृढीकरण होना आवश्यक है। ग्रामीण अभी भी एक बचत करने वाला समुदाय है। सभी बैंकों की ग्रामीण शाखाओं का जमा- ऋण अनुपात औसतन 30 प्रतिशत है। इसका अर्थ है कि गांव वालों की कुल बचत का केवल 30 प्रतिशत ग्रामीणों को ऋण के रूप में दिया जाता है। शेष 70 प्रतिशत अन्य क्षेत्रों के विकास हेतु काम आता है। अतः कृषि क्षेत्र देश के विकास हेतु वित्तीय संसाधनों को पूंजी मुहैया करने का काम करता है। गत कुछ वर्षों में यह भी तथ्य उभर कर आया है कि कृषि से इतर अन्य दोनों घटकों- उद्योग और सेवा- के उत्पादों की 40-50 प्रतिशत मांग कृषकों की क्रय शक्ति यानी आय पर निर्भर करती है। कृषि क्षेत्र की आय बढ़ने से अन्य क्षेत्रों का भी बाजार विस्तार होता है और घटने से उन्हें मंदी का सामना करना पड़ता है। कृषि उत्पादन घटने-बढ़ने का सीधा-सीधा असर आम आदमी द्वारा खरीदे जाने वाले खाद्य पदार्थों एवं अन्य वस्तुओं के मूल्यों पर पड़ता है। उपरोक्त आंकड़ों एवं तथ्यों का निष्कर्ष यह है कि कृषि क्षेत्र की दशा और उथल-पुथल का अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

### 1. प्रस्तावना

इसमें किसी को संदेह नहीं कि स्वतंत्रता के बाद कृषि क्षेत्र में भारी प्रगति हुई है। खाद्यान्न और दूध सहित सभी खाद्य पदार्थों-कपास, चाय, रेशम जैसी नकदी फसलों के उत्पादन में कई गुना वृद्धि हुई है। परिणामस्वरूप भारत कृषि उत्पादन में न केवल आत्मनिर्भर हुआ बल्कि कृषि उत्पादों का निर्यात भी करने में समर्थ हुआ है। किसानों की आय बढ़ने, ग्रामीण क्षेत्रों में सड़क, बिजली, पेयजल, स्वास्थ्य सेवाएं, शिक्षा आदि सुविधाएं पहुंचने से ग्रामीण परिदृश्य में जबरदस्त परिवर्तन आया है। कृषि की प्रौद्योगिकी, उत्पादकता,

उत्पादन का स्वरूप, आय की मात्रा, उपभोग का स्वरूप, साक्षरता, स्वास्थ्य आदि में सुखद परिवर्तन हुए हैं। इन सबके बावजूद कृषि और ग्रामीण क्षेत्रों की कतिपय समस्याएं गम्भीर बनी हुई हैं। यदि उनके ऊपर अविलम्ब ध्यान नहीं दिया गया तो स्थिति विस्फोटक हो सकती है। इस समस्या का पहला कारण यह है कि देश की अर्थव्यवस्था ने वांछित गति से प्रगति नहीं की है। दूसरे, इस विकास के प्रतिफल में ग्रामीण समुदाय को उसका उचित भाग नहीं मिला।

आजादी के समय कुल जनसंख्या का लगभग 75 प्रतिशत खेती पर आधारित था और सकल घरेलू

उत्पाद में उसका योगदान 61 प्रतिशत था। वर्तमान में खेती पर जनसंख्या की निर्भरता 65 प्रतिशत और सकल घरेलू उत्पाद में उसका योगदान घटकर 20 प्रतिशत रह गया है। हमारे अर्थशास्त्री इन दोनों आंकड़ों को अर्थव्यवस्था की प्रगति और आधुनिकीकरण का सूचक मानते हैं, परंतु इसका एक दूसरा पक्ष भी है। वह यह कि पहले देश की 75 प्रतिशत जनसंख्या के पास 61 प्रतिशत आय थी, और अब 65 प्रतिशत जनसंख्या को राष्ट्र की कुल आय के 20 प्रतिशत से काम चलाना पड़ता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि पहले कृषि में लगे प्रति व्यक्ति तथा अन्य व्यवसायों में लगे लोगों की आय में एक और दो का अंतर था, जो अब बढ़कर एक और सात हो गया है। आंकड़ों की दृष्टि से भी ऐसा प्रतीत होता है या कराया जाता है कि खेती पर निर्भरता घटी है, जो पहले 75 प्रतिशत था अब 65 प्रतिशत हो गयी है जबकि वास्तविकता यह है कि आजादी के समय देश की आबादी थी 36 करोड़ जिसके 75 प्रतिशत यानी 27 करोड़ लोगों का मुख्य काम खेती था। अब जनसंख्या है 110 करोड़, जिसका 65 प्रतिशत यानी 71 करोड़ से अधिक लोग खेती पर निर्भर हैं। यानी संख्या 27 करोड़ से बढ़कर 71 करोड़ हो गयी है। घटी नहीं बल्कि ढाई गुणा अधिक बढ़ी है। अर्थात् कृषि भूमि के ऊपर दबाव घटने की बजाय बढ़ा है। अन्य विकसित देशों में जब खेती का राष्ट्रीय आय में योगदान घटा तो उसके साथ खेती पर निर्भर जनसंख्या उतने ही या उससे अधिक अनुपात में घटी। इसी कारण बहुत से देशों में कृषकों की प्रति व्यक्ति आय अन्य लोगों से अधिक है या बराबर है। कम भी है तो अंतर ज्यादा नहीं है। भारत में यह नहीं हुआ। देश की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ने के कारण प्रति व्यक्ति कृषियोग्य भूमि का क्षेत्र भी कम हुआ है। पहले प्रत्येक देशवासी के हिस्से 0.36 हेक्टेयर भूमि आती थी, अब लगभग 0.13 रह गई है और 2025 तक मात्र 0.09 हेक्टेयर रह जाएगी, जो देश के लिए आवश्यक खाद्य सामग्री को पैदा करने के लिए मुश्किल से पर्याप्त होगी। जनसंख्या और परिवारों की वृद्धि से भूमि जोतों के बंटवारे के

कारण अधिकांश जोत इकाइयां इतनी छोटी हो गई हैं कि आर्थिक रूप से लाभकारी नहीं रहीं। छोटे और सीमांत किसान इस श्रेणी में आते हैं। इनकी संख्या 78 प्रतिशत है। 18.6 प्रतिशत जोत ऐसी हैं जो परिवार की आवश्यकता पूरी करने लायक भर हैं। केवल 1.4 प्रतिशत बृहत आकार की (10 हेक्टेयर से बड़ी) जोतें ऐसी हैं जो आर्थिक रूप से लाभकारी हैं। एक तरफ कृषि भूमि के लगातार कम होते जाने और जोत का आकार छोटा होने की समस्या है, दूसरी ओर उपजाऊ, भूमि को अन्धाधुन्ध औद्योगिक एवं शहरी बस्तियों के विस्तार के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। जबकि देश भर में लगभग 6 करोड़ 70 लाख हेक्टेयर भूमि बेकार पड़ी है। इसमें से लगभग 2 करोड़ 20 लाख हेक्टेयर खेती और 5 करोड़ 5 लाख हेक्टेयर वन लगाने के काम आ सकती है। बेकार पड़ी रहने से इस समस्त भूमि की ऊपरी मिट्टी की परत बहकर समुद्र में चली जाती है या बांधों सहित सभी जलाशयों के तल पर जमकर उनकी जल ग्रहण क्षमता घटा रही है। भूमि राजस्व और जोतों का रिकार्ड सुधरने की बजाय बिगड़ता जा रहा है। किसानों को भू-अधिकार पत्र दिये जाने, खेतों की चकबन्दी, रजिस्ट्री की प्रणाली को आधुनिक, पारदर्शी और चुस्त-दुरुस्त बनाये जाने का काम केवल कुछ राज्य ही कर पाएंगे। अधिकांश प्रदेशों में यह अत्यन्त दुरावस्था में है। इस कारण गांवों में अनावश्यक मुकदमेबाजी, विवाद और हिंसा की घटनाएं आम बात हैं। यह स्थिति पहले ही विस्फोटक हो चुकी है और आने वाले समय में अत्यधिक भयावह होने वाली है।

## 2. भारतीय कृषि के लिए बनाये गए नियमों में कमी

कृषि उत्पादों की वर्तमान मूल्य नीति भी ठीक नहीं है। कहने को तो खेती की 24 प्रजातियों के लिए केन्द्र सरकार न्यूनतम समर्थन मूल्य प्रत्येक वर्ष घोषित करती है। परंतु उनमें से गेहूं, चावल, कपास और गन्ने को छोड़कर किसी भी वस्तु की सरकारी खरीद की व्यवस्था नहीं है। इन चार फसलों की खरीद भी केवल पंजाब, हरियाणा, आन्ध्र प्रदेश तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश को छोड़कर

जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं है। प्रायः देखने में आया है कि जब भी किसान उत्पादन बढ़ाता है, दाम गिर जाते हैं। सरकारी खरीद या तो होती नहीं है, और होती भी है तो आंशिक रूप से और विलम्ब से। परिणामतः किसान को जो भी दाम मिले उस पर बेचने को विवश हो जाता है। दूसरे, जो समर्थन मूल्य सरकार निर्धारित करती भी है, वह लाभकारी नहीं होती है। केन्द्र सरकार के कृषि लागत एवं मूल्य आयोग द्वारा लागत आंकलन की जिस प्रणाली का उपयोग किया जाता है, वह त्रुटिपूर्ण है। लागत का हिसाब लगाते समय भूमि की कीमत और अन्य पूंजी की लागत को सम्मिलित नहीं किया जाता। प्राकृतिक आपदाओं और कीड़ों व बीमारियों से होने वाली हानि का हिसाब लागत में नहीं जुड़ता। होना यह चाहिए कि खेती लागत का हिसाब उसी फार्मूले से लगे जो उद्योग मंत्रालय का औद्योगिक लागत एवं मूल्य ब्यूरो (बी.आई.सी.पी.) औद्योगिक उत्पादों के लिए करता है। ऐसा न करना सरासर भेदभावपूर्ण रवैया है।

मूल्यों की इस त्रुटिपूर्ण एवं अन्यायपूर्ण नीति का परिणाम यह होता है कि किसानों को उचित और लाभकारी मूल्य नहीं मिल पाता। उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि कृषि उत्पादों के मूल्य दूसरी वस्तुओं के मूल्य की तुलना में लगातार पिछड़ते चले जाते हैं। इसे अर्थशास्त्र में सापेक्ष मूल्य का सिद्धांत कहा जाता है। इस अनुपात को व्यापार दरें कहते हैं। मूल्यों की इसी आनुपातिक प्रणाली से यह निश्चित होता है कि अर्थव्यवस्था के किस अंग को उसके उद्यम का क्या प्रतिफल मिलता है। इसी से राष्ट्रीय आय में उसका हिस्सा तय होता है। यदि व्यापारिक दरों के पिछले लगभग पांच दशकों यानी 50 वर्ष के इतिहास को देखा जाए तो पता चलता है कि कृषि के सापेक्ष मूल्य दूसरे मूल्यों के अनुपात में प्रायः 82 से 95 प्रतिशत के बीच रहे। यानी मोटे तौर पर कृषि क्षेत्र को केवल मूल्यों के कारण प्रतिवर्ष 12 प्रतिशत घटा उठाना पड़ा है। यह एक मुख्य कारण रहा है कृषकों और ग्रामीणों की आय और अन्य व्यवसायों में लगे लोगों की आय में बढ़ते अन्तर का। इस लगातार

घाटे के बावजूद कुछ अर्थशास्त्री और उद्योगपति कृषि आय पर टैक्स लगाने की बात करते रहते हैं। यह भी वास्तविकता है कि अन्य सभी उत्पादों की खरीद पर बिक्री कर तथा अपनी उपज की बिक्री पर मण्डी टैक्स आदि तो किसान देता ही है। अन्य व्यवसायों की तरह उसकी शुद्ध आय या तो होती नहीं या नगण्य होती है। अतः टैक्स का कोई औचित्य नहीं दिखता।

नीति निर्धारकों, अर्थशास्त्रियों तथा अन्य व्यवसायियों का एक बड़ा वर्ग यह शिकायत भी आमतौर से करता रहता है कि कृषि क्षेत्र को भारी मात्रा में सब्सिडी मिलती है। यह धारणा भी सर्वथा मिथ्या और भ्रामक है। चाहे आन्तरिक मूल्यों की बात हो अथवा अंतरराष्ट्रीय मूल्यों की-दोनों के हिसाब से कृषि क्षेत्र में सब्सिडी नकारात्मक रही है। आन्तरिक सापेक्ष मूल्यों के विषय में ऊपर पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि खेती लगातार घाटे में रही है। अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों के बारे में तो यह पहलू और भी अधिक मजबूती से उभर कर आता है। बीस विकसित देशों के "ओ.ई.सी.डी. क्लब" द्वारा अपनी कृषि को सकल कृषि घरेलू उत्पाद का 44 प्रतिशत सब्सिडी के रूप में दिया जाता है। दूसरे शब्दों में अमरीका, यूरोप, जापान सहित अनेक देशों के किसानों की आमदनी का 44 प्रतिशत तो सरकारी सब्सिडी के रूप में मिलता है। गत एक वर्ष में लगभग 350 करोड़ डालर सब्सिडी इन सरकारों ने अपने किसानों को दी, जो भारत की कुल राष्ट्रीय आय का 55 प्रतिशत होता है। अगर भारत के सकल कृषि उत्पाद की दृष्टि से देखें तो वह हमारे सारे किसानों की पैदावार के मूल्य का ढाई गुणा से ज्यादा होता है। फिर कैसे यह आशा की जाती है कि भारतीय किसान अन्तरराष्ट्रीय बाजार में अमीर देशों के किसानों का मुकाबला कर लेगा? विश्व व्यापार संगठन संधि पर हस्ताक्षर करते समय यह तय हुआ था कि सब देश कृषि क्षेत्र में सब्सिडी को घटाएंगे और अन्ततः दस वर्ष में पूर्णतः समाप्त कर देंगे। घटाना तो दूर अमीर देशों ने अपनी सब्सिडी और बढ़ा दी, खासकर अमरीका और जापान ने। दोहा, मैक्सिको और ब्रासिल आदि

में हुए सम्मेलनों में भारत सहित सभी विकासशील देशों ने यह मुद्दा उठाया भी, परन्तु अमीर देश टस से मस न हुए।

**3. विश्व व्यापार संगठन एवं भारतीय कृषि** विकासशील और अविकसित देशों के लिए विश्व व्यापार संगठन में यह शर्त थी कि यदि उनकी सब्सिडी सकल कृषि उत्पाद के 10 प्रतिशत से कम है तो उसे कम करने की बाध्यता नहीं होगी। भारत में सब्सिडी उस समय भी 6 प्रतिशत से कम थी, अब तो 3 प्रतिशत से भी कम रह गई है। इसका अधिकांश भाग उर्वरकों पर दी जाने वाली सब्सिडी है। सरकार के कई अध्ययनों से यह बात सामने आई कि उर्वरकों की सब्सिडी का 60 प्रतिशत अंश तो उर्वरक कम्पनियों को प्राप्त होता है और केवल 40 प्रतिशत किसानों तक पहुंचता है। बिजली पर मिलने वाली सब्सिडी की असलियत यह है कि राष्ट्र की कुल विद्युत का मुश्किल से 12 प्रतिशत किसानों को मिलता है। जबकि दिखाया जाता है 28 से 32 प्रतिशत। वास्तविकता यह है, कि जो बिजली शहरों में और उद्योगों द्वारा चोरी की जाती है उसका बड़ा भाग किसानों के खाते में डालकर यह भ्रम फैलाया जाता है। सरकारों की इस धोखाधड़ी की न्यायिक जांच होनी चाहिए।

विकसित देशों द्वारा भारी सब्सिडी के कारण विश्व व्यापार संगठन के ही कानून में यह प्रावधान किया गया था कि भारत जैसे विकासशील देश कृषि के आयात पर 100 प्रतिशत से लेकर 300 प्रतिशत तक आयात कर लगा सकते हैं। उल्लेखनीय है कि भारत ने प्रायः 65 प्रतिशत ही आयात शुल्क लगाया। दूध, सोयाबीन का तेल और अन्य खाद्य तेलों पर तो 15 प्रतिशत से 45 प्रतिशत ही आपात शुल्क रखा। कभी-कभी शून्य भी कर दिया। नतीजा यह हुआ कि भारी मात्रा में खाद्य तेल, दालें और अब तो गेहूं भी आयात हुआ, इसने भारतीय किसान की उपज के दाम गिराने का काम किया। सारे मात्रात्मक प्रतिबंध भी भारत ने समाप्त कर दिए। न सब्सिडी रही, न प्रतिबंध रहे, न उतना आयात कर लगा जितना विश्व व्यापार संगठन समझौते में अनुमति है, और न ही

विकसित देशों ने अपनी सब्सिडी घटायी। इस प्रकार भारतीय कृषि को वैश्वीकरण का नुकसान तो झेलना पड़ रहा है, लाभ कुछ भी नहीं।

गत एक वर्ष में किये गए गेहूं के आयात ने तो सरकार की किसान विरोधी नीति को पूरी तरह सिद्ध कर दिया। भारतीय किसान के गेहूं का दाम तो रखा रु. 650 प्रति िंकटल और विदेशी किसान से खरीदा 1100 रुपए प्रति िंकटल। वह भी कम प्रोटीन वाला, अधिक नमी वाला और 30 से ज्यादा खरपतवारों से अपमिश्रित सड़ा-बीमार गेहूं। सेनेटरी और फाइटो सेनेटरी के सारे अन्तरराष्ट्रीय मानक भी शिथिल कर दिए गए और आयात कर भी शून्य कर दिया। सरकारी खरीद के लिए ही नहीं, निजी कम्पनियों द्वारा किये आयात पर भी। क्या वे देश भी कभी हमारे कृषि उत्पादों के साथ ऐसा बर्ताव करेंगे? कदापि नहीं। हमारी उपज तो इन कारणों से अस्वीकार कर दी जाती है और प्रतिबन्धित भी। यह स्मरण रखना जरूरी है कि 1998 में भारत सरकार ने गेहूं का समर्थन मूल्य 550 रुपए प्रति िंकटल रखा था। तब से गत वर्ष तक प्रायः 5 प्रतिशत की दर से मुद्रास्फीति बढ़ी है। इस हिसाब से पिछले साल गेहूं का भाव लगभग 750 रु. और इस साल 800 रु. होना चाहिए था। जबकि गत वर्ष 650 रु. और इस वर्ष 750 रु. दाम रहा। यदि ठीक दाम रखे गये होते तो किसान फिर भण्डार भर देता।

सबसे बड़ा झूठ तो सरकार कृषि को प्राथमिकता देने का प्रचार करके बोलती है। यदि कृषि में हो रहे निवेश और पूंजी विनिर्माण के आंकड़ों पर नजर डालें तो यह पूरी तरह उजागर हो जाता है। गत चार पंचवर्षीय योजनाओं के काल में सकल घरेलू उत्पाद का केवल 1.3 प्रतिशत निवेश कृषि क्षेत्र में हुआ। इसमें निजी निवेश भी सम्मिलित है। सार्वजनिक (सरकारी) निवेश को लें तो केवल 0.3 प्रतिशत ही है। इस काल में योजना के मद में जितना व्यय हुआ उसका भी केवल 5 प्रतिशत से कम कृषि को मिला। पूंजी विनिर्माण के आंकड़ों से पता चलता है कि 1970-80 के दशकों में देश में जितना कुल पूंजी विनिर्माण होता था, उसका 18 से 21 प्रतिशत खेती में होता था। अब यह

घटकर 10 से 11 प्रतिशत रह गया है। सार्वजनिक पूंजी विनिर्माण तो 4 प्रतिशत हो गया है। सर्वाधिक उपेक्षा सिंचाई के विकास की हुई है। यह सर्वविदित है कि खेती के लिए सबसे महत्वपूर्ण आदान सिंचाई का पानी है। उसके बिना न उर्वरक का प्रयोग हो सकता है और न ही अच्छे बीजों का। विडम्बना यह है कि अभी भी मात्र 40 प्रतिशत कृषि क्षेत्र को सिंचाई की सुविधा प्राप्त है। शेष 60 प्रतिशत खेती वर्षा के भरोसे है। ग्रामीण क्षेत्रों के 80 प्रतिशत गरीब इन्हीं वर्षाधारित क्षेत्रों में रहते हैं। सूखा, अकाल, कुपोषण, बीमारी भी इन्हीं इलाकों में अधिक रहती है। अतः ग्रामीण और कृषि विकास के समुचित विकास के बिना देश के विकास की कल्पना भी कोरी कल्पना रहेगी। आठवीं योजना तक राज्यों के योजना व्यय का 23 प्रतिशत सिंचाई में लगता था। अब वह घटकर 10 से 12 प्रतिशत रह गया है। केन्द्र ने पिछले 20 वर्षों में सिंचाई विकास में लगभग शून्य निवेश किया है। तब कैसे कृषि 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से विकास कर पायेगी, जैसा कि नौवीं, दसवीं और ग्यारहवीं योजना में लक्ष्य रखा गया है। जोत का छोटा आकार, पूंजी का अभाव और लाभकारी दाम नहीं, फिर विकास कैसे होगा? यह चिन्ता की बात है।

#### 4. सारांश

किसानों से जुड़ा एक मुद्दा लगातार यह रहा है कि शहरी और औद्योगिक बस्तियों तथा अधोसंरचना यानी बांध, सड़क व अन्य परियोजनाओं के लिए सरकार उनकी भूमि का वैधानिक रूप से अधिग्रहण कर लेती है। यदि यह मान भी लिया जाए कि बांध या सड़क जैसी सार्वजनिक हित की परियोजनाओं के लिए अधिग्रहण उचित है, तो भी शहरी एवं औद्योगिक बस्तियों के लिए किसानों की भूमि का कानूनी अधिग्रहण किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। पहले तो यह भी होता था कि सरकार कानूनी रूप से किसी कृषियोग्य भूमि का अधिग्रहण कर लेती थी और किसान को मुआवजे के रूप में औने-पौने दाम दे देती थी। बाद में सर्वोच्च न्यायालय व अन्य न्यायालयों के लगातार हस्तक्षेप और अनेक

निर्णयों के बाद इतना होने लगा कि किसानों को देर-सबेर उनकी भूमि का बाजार मूल्य दे दिया जाता है। पर भूमि का बाजार मूल्य दे देना भर पर्याप्त नहीं होता। सरकार द्वारा किसानों की भूमि का अधिग्रहण कर जिन लोगों को भवन बनाने या अन्य औद्योगिक अथवा व्यावसायिक गतिविधियां चलाने के लिए आबंटन किया जाता है, उन्हें अत्यधिक लाभ मिलता है। उस भूमि के दाम पांच-दस गुणा नहीं, सैकड़ों-हजारों गुणा तक बढ़ जाते हैं। और किसान को उसका कोई लाभ नहीं मिलता, वह तो बस बाजार का दाम मिलने से मजबूर चुप होकर बैठ जाता है। जबकि उसे उसके मौलिक स्थान से उजाड़ दिया गया होता है। किसान के सामने कठिनाई यह होती है कि उसे फिर अपने आस-पास तो कोई भूमि मिलती नहीं है। यदि कहीं दूर मिले भी तो उसका सामाजिक परिवेश बदल जाता है। खेती के अलावा उसके पास अन्य कोई सिद्धता होती नहीं है। इन सब कारणों से वह मानसिक रूप से टूट जाता है। इसलिए किसी भी मूल्य पर क्यों न हो, किसी भी शहरी या व्यावसायिक गतिविधि के लिए किसानों की भूमि का सरकार द्वारा कानूनी रूप से अधिग्रहण पूरी तरह से बंद होना चाहिए। औद्योगिक, व्यापारिक गतिविधियों एवं शहरियों को अपने उपयोग के लिए बाजार से ही भूमि खरीदने की बाध्यता होनी चाहिए।

विशेष आर्थिक क्षेत्र (एस.ई.जेड) की कथा यही है। इसमें कई बार किसानों के साथ बहुत अन्याय हो जाता है। पश्चिम बंगाल के सिंगूर और नंदी ग्राम इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। उधर उ.प्र. में राज्य सरकार ने रिलायन्स को एक विद्युत इकाई स्थापित करने के लिए 2500 एकड़ जमीन अधिग्रहीत करके दे दी। जबकि इसी प्रकार की विद्युत इकाइयां अमरीका व अन्य पश्चिमी देशों में 50-60 एकड़ में चल रही हैं। रिलायन्स को चाहिए था कि वह अपनी विद्युत इकाई स्थापित करने के लिए आवश्यक भूमि बाजार से खरीदे। यदि राज्य सरकार को प्रदेश की विद्युत आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए किसी औद्योगिक घराने की मदद करनी ही थी तो वह किसी बंजर या

अनुपयोगी भूमि इसके लिए दे सकती थी। पर पहले 10 हजार एकड़ की घोषणा और फिर भारी विरोध के चलते भी ढाई हजार एकड़ उपजाऊ भूमि देना बिल्कुल उचित नहीं है। द

संदर्भ :-

1. गोल्डस्टीन , जोशुआ , इंटरनेशनल रिलेशन्स , परसों एजुकेशन , नई दिल्ली , 2004.
2. ऑक्सफोर्ड , बर्री , ब्राउनिंग . गैरे क ., हगिंग्स , रिचर्ड एंड रोसमों , बेन , पॉलिटिक्स : ान इंटीडक्शन , लंदन : रूटलेज , 2002.
3. हेल्ड , डेविड , ेट . अल ., ग्लोब 1 ट्रांसफॉर्मेशन्स , पॉलिटी प्रेस , कैंब्रिज , 1999.
4. रेड्डी , डी . नरसिम्हा , “चैलेंजेज ऑफ़ डेन्ट वर्क इन थे ग्लोबलीसिंग वर्ल्ड ,” थे

इंडियन जर्नल ऑफ़ लेबर इकोनॉमिक्स , वॉल . 48, No. 1, 2005.

5. पपोला , टी .स ., “ग्लोबलीसाशन , एम्प्लॉयमेंट एंड सोशल प्रोटेक्शन : एमेर्गिंगे पर्सपेक्टिव्स फॉर थे इंडियन वर्कर्स ”, थे इंडियन जर्नल ऑफ़ लेबर इकोनॉमिक्स , वॉल . 47, No. 3, 2004.
6. सुरजीत सिन्हा , ‘ट्राइबल सॉलिडेरिटी मूवमेंट इन इंडिया ,’ इन घनश्याम शाह (एड .), सोशल मूवमेंट एंड स्टेट , सेज , नई दिल्ली, 2002.
7. सोमयाजी ‘ग्लोबलाइजेशन एंड फॅमिली चेंज इन इंडिया ,’ इन सकरामा सोमयाजी एंड गणेशा सोमयाजी (एड्स .), सोशियोलॉजी ऑफ़ ग्लोबलाइजेशन : पर्सपेक्टिव्स फ्रॉम इंडिया , रावत पुब्लिकेशन्स , जयपुर , 2006.